.. Dnyaneshvari or Bhavarthadipika Chapter 4 ..

॥ ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका अध्याय ४ ॥

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥
अध्याय चवथा ।
ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः ।

आजि श्रवणेंद्रियां पाहलें। जें येणें गीतानिधान देखिलें। आतां स्वप्नचि हें तुकलें। साचासरिसें ॥ १॥
आधींचि विवेकाची गोठी। वरी प्रतिपादी श्रीकृष्ण जगजेठी। आणि भक्तराजु किरीटी। परिसत असे ॥ २॥
जैसा पंचमालापु सुगंधु। कीं परिमळु आणि सुस्वादु। तैसा भला जाहला विनोदु। कथेचा इये ॥ ३॥
कैसी आगळिक दैवाची। जे गंगा जोडली अमृताची। हो कां जपतपें श्रोतयांचीं। फळा आलीं ॥ ४॥
आतां इंद्रियजात आघवें। तिहीं श्रवणाचें घर रिघावें। मग संवादसुख भोगावें। गीताख्य हें ॥ ५॥
हा अतिसो अतिप्रसंगें। सांडूनि कथाचि ते सांगें। जे कृष्णार्जुन दोघे। बोलत होते ॥ ६॥
ते वेळीं संजयो रायातें म्हणे। अर्जुनु अधिष्ठिला दैवगुणें। जे अतिप्रीति श्रीनारायणें। बोलतु असे ॥ ७॥
जें न संगेचि पितया वसुदेवासी। जें न संगेचि माते देवकीसी। जें न संगेचि बंधु बळिभद्रासी। तें गुह्य अर्जुनेंशीं बोलत ॥ ८॥
देवी लक्ष्मीयेवढी जवळिक। परी तेही न देखे या प्रेमाचें सुख। आजि कृष्णस्नेहाचें बिक। यातेंचि आथी ॥ ९॥
सनकादिकांचिया आशा। वाढीनल्या होतिया कीर बहुवसा। परी त्याही येणें मानें यशा। येतीचिना ॥ १०॥
या जगदीश्वराचें प्रेम। एथ दिसतसें निरुपम। कैसें पार्थें येणें सर्वोत्तम। पुण्य केलें ॥ ११॥
हो कां जयाचिया प्रीती। अमूर्त हा आला व्यक्ती। मज एकवंकी याची स्थिती। आवडतु असे ॥ १२॥
एऱ्हवीं हा योगियां नाडळे। वेदार्थासी नाकळे। जेथ ध्यानाचेही डोळे। पावतीना ॥ १३॥
तो हा निजस्वरूप। अनादि निष्कंप। परी कवणें मानें सकृप। जाहला आहे ॥ १४॥
हा त्रैलोक्यपटाची घडी। आकारची पैलथडी। कैसा याचिये आवडी। आवरला असे ॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच ।
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १॥

मग देव म्हणे अगा पंडुसुता। हाचि योगु आम्हीं विवस्वता। कथिला परी ते वार्ता। बहुतां दिवसांची ॥ १६॥
मग तेणें विवस्वतें रवी। हे योगस्थिति आघवी। निरूपिली बरवी। मनूप्रती ॥ १७॥
मनूनें आपण अनुष्ठिली। मग इक्ष्वाकुवा उपदेशिली। ऐसी परंपरा विस्तारिली। आद्य हे गा ॥ १८॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २॥

मग आणिकही या योगातें। राजर्षि जाहले जाणते। परी तेथोनि आतां सांप्रतें। नेणिजे कोण्ही ॥ १९॥

जे प्राणियां कामीं भरु। देहाचिवरी आदरु। म्हणौनि पडिला विसरु। आत्मबोधाचा ॥ २०॥
अव्हांटलिया आस्थाबुद्धि। विषयसुखची परमावधि। जीवु तैसा उपाधि। आवडे लोकां ॥ २१॥
एरव्हीं तरी खवणेयांच्या गांवीं। पाटाउवें काय करावीं। सांगें जात्यंधा रवी। काय आथी ? ॥ २२॥
कां बहिरयांच्या आस्थानीं। कवण गीतातें मानीं। कीं कोल्हेया चांदणीं। आवडी उपजें ? ॥ २३॥
पैं चंद्रोदया आरौतें। जयांचे डोळे फुटती असते। ते काउळे केवीं चंद्रातें। वोळखती ? ॥ २४॥
तैसीं वैराग्याची शिंव न देखती। जे विवेकाची भाष नेणती ?। ते मूर्ख केंवीं पावती। मज ईश्वरातें ? ॥ २५॥
कैसा नेणों मोहो वाढीनला। तेणें बहुतेक काळु व्यर्थ गेला। म्हणौनि योगु हा लोपला। लोकीं इये ॥ २६॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३॥

तोचि हा आजि आतां। तुजप्रती कुंतीसुता। सांगितला आम्हीं तत्त्वतां। भ्रांति न करीं ॥ २७॥
हें जीवींचें निज गुज। परी केवीं राखों तुज। जे पढियेसी तूं मज। म्हणौनियां ॥ २८॥
तूं प्रेमाचा पुतळा। भक्तीचा जिव्हाळा। मैत्रियेचि चित्कळा। धनुर्धरा ॥ २९॥
तूं अनुसंगाचा ठावो। आतां तुज काय वंचूं जावों ?। जऱ्ही संग्रामारूढ आहों। जाहलों आम्ही ॥ ३०॥
तरी नावेक हें सहावें। गाजाबज्यही न धरावें। परी तुझें अज्ञानत्व हरावें। लागे आधीं ॥ ३१॥

अर्जुन उवाच ।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४॥

तंव अर्जुन म्हणे श्रीहरी। माय आपुलेयाचा स्नेहो करी। एथ विस्मयो काय अवधारीं। कृपानिधी ॥ ३२॥
तूं संसारश्रांतांची साउली। अनाथ जीवांची माउली। आमुतें कीर प्रसवली। तुझीच कृपा ॥ ३३॥
देवा पांगुळ एकादें विजे। तरी जन्मौनि जोजारु साहिजे। हें बोलों काय तुझें। तुजचि पुढां ॥ ३४॥
आतां पुसेन जें मी कांहीं। तेथ निकें चित्त देईं। तेवींचि देवें कोपावें ना कांहीं। बोला एका ॥ ३५॥
तरी मागील जे वार्ता। तुवां सांगितली होती अनंता। ते नावेक मज चित्ता। मानेचिना ॥ ३६॥
जे तो विवस्वतु म्हणजे कायी। ऐसें हें वडिलां ठाउवें नाहीं। तरी तुवांचि केवीं पाहीं। उपदेशिला ? ॥ ३७॥
तो तरी आइकिजे बहुतां काळांचा। आणि तूं तंव श्रीकृष्ण सांपेचा। म्हणौनि गा इये मातुचा। विसंवादु ॥ ३८॥
तेवींचि देवा चरित्र तुझें। आपण कांहींचि नेणिजे। हें लटिकें केवीं म्हणिजे। एकिहेळां ? ॥ ३९॥
परि हेचि मातु आघवी। मी परियेसें ऐशी सांगावी। जे तुवांचि रवी केवीं। पाही उपदेशु केला ॥ ४०॥

श्रीभगवानुवाच ।
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५॥

तंव श्रीकृष्ण म्हणे पंडुसुता। तो विवस्वतु जैं होता। तैं आम्हीं नसों ऐसी चित्ता। भ्रांति जरी तुज ॥ ४१॥

तरी तूं गा हें नेणसी। पैं जन्में आम्हां तुम्हासी। बहुतें गेलीं परी तियें न स्मरसी। आपुलीं तूं ॥ ४२॥
मी जेणें जेणें अवसरें। जें जें होऊनि अवतरें। तें समस्तही स्मरें। धनुर्धरा ॥ ४३॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीष्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६॥

म्हणौनि हें आघवें। मागील मज आठवें। मी अजुही परि संभवें। प्रकृतियोगें ॥ ४४॥
माझें अव्ययत्व तरी न नसे। परी होणें जाणें एक दिसे। तें प्रतिबिंबें मायावशें। माझ्याचि ठायीं ॥ ४५॥
माझी स्वतंत्रता तरी न मोडे। परी कर्माधीनु ऐसा आवडे। तेही भ्रांतिबुद्धि तरी घडे। एऱ्हवीं नाहीं ॥ ४६॥
कीं एकचि दिसे दुसरें। तें दर्पणाचेनि आधारें। एऱ्हवीं काय वस्तुविचारें। दुजें आहे ? ॥ ४७॥
तैसा अमूर्तचि मी किरीटी। परी प्रकृति जैं अधिष्ठीं। तैं साकारपणें नट नटीं। कार्यालागीं ॥ ४८॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७॥

जें धर्मजात आघवें। युगायुगीं म्यां रक्षावें। ऐसा ओघु हा स्वभावें। आद्यु असे ॥ ४९॥
म्हणौनि अजत्व परतें ठेवीं। मी अव्यक्तपणही नाठवीं। जे वेळीं धर्मातें अभिभवी। अधर्मु हा ॥ ५०॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८॥

ते वेळीं आपुल्याचेनि कैवारें। मी साकारु होऊनि अवतरें। मग अज्ञानाचें आंधारें। गिळूनि घालीं ॥ ५१॥
अधर्माची अवधी तोडीं। दोषांचीं लिहिलीं फाडीं। सज्जनांकरवीं गुढी। सुखाची उभवीं ॥ ५२॥
दैत्यांचीं कुळें नाशीं। साधूंचा मानु गिंवशीं। धर्मासीं नीतीशीं। शेंस भरीं ॥ ५३॥
मी अविवेकाची काजळी। फेडूनि विवेकदीप उजळीं। तैं योगियां पाहे दिवाळी। निरंतर ॥ ५४॥
सत्सुखें विश्व कोंदे। धर्मुचि जगीं नांदें। भक्तां निघती दोंदे। सात्त्विकाचीं ॥ ५५॥
तै पापांचा अचळु फिटे। पुण्याची पहांट फुटे। जैं मूर्ति माझी प्रगटे। पंडुकुमरा ॥ ५६॥
ऐसेया काजालागीं। अवतरें मी युगीं युगीं। परि हेंचि वोळखें जो जगीं। तो विवेकिया ॥ ५७॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९॥

माझें अजत्वें जन्मणें। अक्रियताचि कर्म करणें। हें अविकार जो जाणे। तो परममुक्त ॥ ५८॥
तो चालिला संगें न चळे। देहींचा देहा नाकळे। मग पंचत्वीं तंव मिळे। माझ्याचि रूपीं ॥ ५९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बह्वो ज्ञानतपसा पूता मद्भवमागताः ॥१०॥

एऱ्हवीं परापर न शोचिती। जे कामनाशून्य होती। वाटा कें वेळीं न वचती। क्रोधाचिया ॥ ६०॥
सदा मियांचि आथिले। माझिया सेवा जियाले। कीं आत्मबोधें तोषले। वीतराग जे ॥ ६१॥
जे तपोतेजाचिया राशी। कीं एकायतन ज्ञानासी। जे पवित्रता तीर्थांसी। तीर्थरूप ॥ ६२॥
ते मद्भावा सहजें आले। मी तेचि ते होऊनि ठेले। जे मज तयां उरले। पदर नाहीं ॥ ६३॥
सांगैं पितळेची गंधिकाळिक। जैं फिटली होय निःशेख। तैं सुवर्ण काई आणिक। जोडूं जाइजे ? ॥ ६४॥
तैसे यमनियमीं कडसले। जे तपोज्ञानें चोखाळले। मी तेचि ते जाहले। एथ संशयो कायसा ? ॥ ६५॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

एऱ्हवीं तरी पाहीं। जे जैसे माझ्या ठायीं। भजती तयां मीही। तैसाचि भजें ॥ ६६॥
देखैं मनुष्यजात सकळ। हें स्वभावता भजनशीळ। जाहलें असे केवळ। माझ्याचि ठायीं ॥ ६७॥
परी ज्ञानेंवीण नाशिले। जे बुद्धिभेदासी आले। तेणेंचि त्या कल्पिलें। अनेकत्व ॥ ६८॥
म्हणौनि अभेदीं भेदु देखती। यया अनाम्या नामें ठेविती। देवी देवो म्हणती। अचर्चातें ॥ ६९॥
जे सर्वत्र सदा सम। तेथ विभाग अधमोत्तम। मतिवशें संभ्रम। विवंचिती ॥ ७०॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

मग नानाहेतुप्रकारें। यथोचितें उपचारें। मानिलीं देवतांतरें। उपासिती ॥ ७१॥
तेथ जें जें अपेक्षित। तें तैसेंचि पावती समस्त। परी तें कर्मफळ निश्चित। वोळख तूं ॥ ७२॥
वांचून देतें घेतें आणिक। निभ्रांत नाहीं सम्यक। एथ कर्मचि फळसूचक। मनुष्यलोकीं ॥ ७३॥
जैसें क्षेत्रीं जें पेरिजे। तें वांचूनि आन न निपजे। कां पाहिजे तेंचि देखिजे। दर्पणाधारें ॥ ७४॥
नातरी कडेयातळवटीं। जैसा आपुलाचि बोलू किरीटी। पडिसादु होऊनि उठी। निमित्तयोगें ॥ ७५॥
तैसा समस्तां यां भजना। मी साक्षिभूतु पैं अर्जुना। एथ प्रतिफळे भावना। आपुलाली ॥ ७६॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

आतां याचिपरी जाण। चाऱ्ही हे वर्ण। सृजिलें म्यां गुण-। कर्मविभागें ॥ ७७॥
जे प्रकृतीचेनि आधारें। गुणाचेनि व्यभिचारें। कर्मैं तदनुसारें। विवंचिली ॥ ७८॥
एथ एकचि हे धनुष्यपाणी। परी जाहले गा चहूं वर्णीं। ऐसी गुणकर्मकडसणी। केली सहजें ॥ ७९॥
म्हणौनि आइकें पार्था। हे वर्णभेदसंस्था। मीं कर्ता नव्हें सर्वथा। याचिलागीं ॥ ८०॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

हें मजचिस्तव जाहलें। परी म्यां नाहीं केलें। ऐसें जेणें जाणितलें। तो सुटला गा ॥८१॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

मागील मुमुक्षु जे होते। तिहीं ऐशिया जाणोनि मातें। कर्में केलीं समस्तें। धनुर्धरा ॥८२॥
परि तें बीजें जैसीं दग्धलीं। नुगवतींचि पेरिलीं। तैशीं कर्मेंचि परि तयां जाहलीं। मोक्षहेतु ॥८३॥
एथ आणिकही एक अर्जुना। हे कर्माकर्मविवंचना। आपुलिये चाडें सज्ञाना। योग्यु नोहे ॥८४॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म म्हणिपे तें कवण। अथवा अकर्मा काय लक्षण। ऐसें विचारितां विचक्षण। गुंफोनि ठेले ॥८५॥
जैसें कां कुडें नाणें। खऱ्याचेनि सारखेपणें। डोळ्यांचेंहि देखणें। संशयीं घाली ॥८६॥
तैसें नैष्कर्म्यतेचेनि भ्रमें। गिंवसिजत आहाती कर्में। जे दुजी सृष्टी मनोधर्में। करूं सकती ॥८७॥
वांचूनि मूर्खांची गोठी कायसी। एथ मोहले गा क्रांतदर्शी। म्हणौनि आतां तेंचि परियेसीं। सांगेन तुज ॥८८॥

कर्मण्यो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

तरी कर्म म्हणजे स्वभावें। जेणें विश्वाकारु संभवे। तें सम्यक् आधीं जाणावें। लागे एथ ॥८९॥
मग वर्णाश्रमासि उचित। जें विशेष कर्म विहित। तेंही वोळखावें निश्चित। उपयोगेंसी ॥९०॥
पाठीं जें निषिद्ध म्हणिपे। तेंही बुझावें स्वरूपें। येतुलेनि कांहीं न गुंफे। आपैसेंचि ॥९१॥
एऱ्हवीं जग हें कर्माधीन। ऐसी याची व्याप्ती गहन। परी तें असो आइकें चिन्ह। प्राप्तांचें गा ॥९२॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो सकळकर्मीं वर्ततां। देखैं आपुली नैष्कर्म्यता। कर्मसंगें निराशता। फळाचिया ॥९३॥
आणि कर्तव्यतेलागीं। जया दुसरें नाहीं जगीं। ऐसिया नैष्कर्म्यता तरी चांगीं। बोधला असे ॥९४॥
तरी क्रियाकलापु आघवा। आचरतु दिसे बरवा। तोचि तो ये चिन्हीं जाणावा। ज्ञानिया गा ॥९५॥
जैसा कां जळापाशीं उभा ठाके। तो जरी आपणपें जळामाजिं देखे। तरी तो निभ्रांत वोळखे। म्हणे मी वेगळा आहें ॥९६॥
अथवा नावें हन जो रिगे। तो थडियेचें रुख जातां देखे वेगें। तेंचि साचोकारें जों पाहों लागे। तंव रुख म्हण अचळ ॥९७॥

तैसें सर्व कर्मीं असणें। ते फुडें मानूनि वायाणें। मग आपणया जो जाणे। नैष्कर्म्यु ऐसा ॥ ९८॥
आणि उदोअस्तुचेनि प्रमाणें। जैसें न चालतां सूर्याचें चालणें। तैसें नैष्कर्म्यत्व जाणें। कर्मींचि असतां ॥ ९९॥
तो मनुष्यासारिखा तरी आवडे। परी मनुष्यत्व तया न घडे। जैसें जळामाजीं न बुडे। भानुबिंब ॥ १००॥
तेणें न पाहतां विश्व देखिलें। न करितां सर्व केलें। न भोगितां भोगिलें। भोग्यजात ॥ १०१॥
एकेचि ठायीं बैसला। परि सर्वत्र तोचि गेला। हें असो विश्व जाहला। आंगेंचि तो ॥ १०२॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९॥

जया पुरुषाच्या ठायीं। कर्माचा तरी खेदु नाहीं। परी फलापेक्षा कहीं। संचरेना ॥ १०३॥
आणि हें कर्म मी करीन। अथवा आदरिलें सिद्धी नेईन। येणें संकल्पेंहीं जयाचें मन। विटाळेना ॥ १०४॥
ज्ञानाग्नीचेनि मुखें। जेणें जाळिलीं कर्में अशेखें। तो परब्रह्मचि मनुष्यवेखें। वोळख तूं ॥ १०५॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २०॥

जो शरीरीं उदासु। फळभोगीं निरासु। नित्यता उल्हासु। होऊनि असे ॥ १०६॥
जो संतोषाचा गाभारा। आत्मबोधाचिये वोगरां। पुरे न म्हणेचि धनुर्धरा। आरोगितां ॥ १०७॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२॥

कैसी अधिकाधिक आवडी। घेत महासुखाची गोडी। सांडोनियां आशा कुरोंडी। अहंभावेंसीं ॥ १०८॥
म्हणौनि अवसरें जें जें पावे। कीं तेणेंचि तो सुखावे। जया आपुलें आणि परावें। दोन्ही नाहीं ॥ १०९॥
तो दिठीं जें पाहे। तें आपणचि होऊनि जाये। आईके तें आहे। तोचि जाहला ॥ ११०॥
चरणीं हन चाले। मुखें जें जें बोले। ऐसें चेष्टाजात तेतुलें। आपणचि जो ॥ १११॥
हें असो विश्व पाहीं। जयासि आपणपेंवांचूनि नाहीं। आतां कवण तें कर्म कायी। बाधी तयातें ॥ ११२॥
हा मत्सरु जेथ उपजे। तेतुलें नुरेचि जया दुजें। तो निर्मत्सरु काइ म्हणिजे। बोलवरी ? ॥ ११३॥
म्हणौनि सर्वांपरी मुक्तु। तो सकर्मुचि कर्मरहितु। सगुण परि गुणातीतु। एथ भ्रांति नाहीं ॥ ११४॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३॥

तो देहसंगें तरी असे। परी चैतन्यासारिखा दिसे। पाहतां परब्रह्माचेनि कसें। चोखाळु भला ॥ ११५॥

ऐसाहि परी कौतुकें। जरी कर्में करी यज्ञादिकें। तरी तियें लया जाती निःशेखें। तयाच्याचि ठायीं ॥ ११६ ॥
अकाळींचीं अभ्रें जैशीं। उर्मीवीण आकाशीं। हारपती आपैशीं। उदयलीं सांती ॥ ११७ ॥
तैशीं विधिविधानें विहितें। जरी आचरे तो समस्तें। तरी तियें ऐक्यभावें ऐक्यातें। पावतीचि गा ॥ ११८ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नो ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

हें हवन मी होता। कां इयें यज्ञीं हा भोक्ता। ऐसिया बुद्धीसि नाहीं भिन्नता। म्हणौनियां ॥ ११९ ॥
जे इष्टयज्ञ यजावे। तें हविर्मंत्रादि आघवें। तो देखतसे अविनाशभावें। आत्मबुद्धि ॥ १२० ॥
म्हणौनि ब्रह्म तेंचि कर्म। ऐसें बोधा आलें जया सम। तया कर्तव्य तें नैष्कर्म्य। धनुर्धरा ॥ १२१ ॥
आतां अविवेकु कुमारत्वा मुकले। जयां विरक्तीचें पाणिग्रहण जाहलें। मग उपासन जिहीं आणिलें। योगाग्नीचें ॥ १२२ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

जे यजनशील अहर्निशीं। जिहीं अविद्या हविली मनेंसीं। गुरुवाक्य हुताशीं। हवन केलें ॥ १२३ ॥
तिहीं योगाग्निकीं यजिजे। तो दैवयज्ञु म्हणिजे। जेणें आत्मसुख कामिजे। पंडुकुमरा ॥ १२४ ॥
आतां अवधारी सांगैन आणिक। जे ब्रह्माग्नी साग्निक। तयांतें यज्ञचि यज्ञु देख। उपासिजे ॥ १२५ ॥

श्रोत्रादिनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

एक संयमाग्निहोत्री। ते युक्तित्रयाच्या मंत्रीं। यजन करिती पवित्रीं। इंद्रियद्रव्यीं ॥ १२६ ॥
एकां वैराग्य रवि विवळे। तंव संयती विहार केले। तेथ अपावृत जाहले। इंद्रियानळ ॥ १२७ ॥
तिहीं विरक्तीची ज्वाळा घेतली। तंव विकारांचीं इंधनें पळिपली। तेथ आशाधूमें सांडिलीं। पांचही कुंडें ॥ १२८ ॥
मग वाक्यविधीचिया निरवडी। विषय आहुती उदंडीं। हवन केलें कुंडीं। इन्द्रियाग्नीच्या ॥ १२९ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

एकीं ययापरी पार्था। दोषु क्षाळिले सर्वथा। आणिकीं हृदयारणीं मंथा। विवेकु केला ॥ १३० ॥
तो उपशमें निहटिला। धैर्येंवरी दाटिला। गुरुवाक्यें काढिला। बळकटपणें ॥ १३१ ॥
ऐसें समरसें मंथन केलें। तेथ झडकरी काजा आलें। जें उज्जीवन जाहलें। ज्ञानाग्नीचें ॥ १३२ ॥
पहिला ऋद्धिसिद्धींचा संभ्रमु। तो निवर्तोनि गेला धूमु। मग प्रगटला सूक्ष्मु। विस्फुलिंगु ॥ १३३ ॥
तया मनाचें मोकळें। तेंचि पेटवण घातले। जें यमनियमीं हळुवारलें। आइतें होतें ॥ १३४ ॥
तेणें सादुकुपणे ज्वाळा समृद्धा। मग वासनांतराचिया समिधा। स्नेहेंसीं नानाविधा। जाळिलिया ॥ १३५ ॥

तेथ सोहंमंत्रें दीक्षितीं। इंद्रियकर्मांच्या आहुती। तियें ज्ञानानळीं प्रदीप्तीं। दिधलिया ॥१३६॥
पाठीं प्राणक्रियेचिये स्रुवेनिशीं। पूर्णाहुती पडली हुताशीं। तेथ अवभृत समरसीं। सहजें जहालें ॥१३७॥
मग आत्मबोधींचें सुख। जें संयमाग्नीचें हुतशेष। तोचि पुरोडाशु देख। घेतला तिहीं ॥१३८॥
एक ऐशिया इहीं यजनीं। मुक्त ते जाहले त्रिभुवनीं। या यज्ञक्रिया तरी आनानीं। परि प्राप्य तें एक ॥१३९॥

> द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
> स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

एक द्रव्युयज्ञु म्हणिपती। एक तपसामग्रीया निपजविती। एक योगयागुही आहाती। जे सांगितलें ॥१४०॥
एकीं शब्दीं शब्दु यजिजे। तो वाग्यज्ञु म्हणिजे। ज्ञानें ज्ञेय गमिजे। तो ज्ञानयज्ञु ॥१४१॥
हें अर्जुना सकळ कुवाडें। जे अनुष्ठितां अतिसांकडें। परी जितेंद्रियासीचि घडे। योग्यतावशें ॥१४२॥
ते प्रवीण तेथ भले। आणि योगसमृद्धि आथिले। म्हणौनि आपणपां तिहीं केलें। आत्महवन ॥१४३॥

> अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
> प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

मग अपानाग्नीचेनि मुखीं। प्राणद्रव्यें देखीं। हवन केलें एकीं। अभ्यासयोगें ॥१४४॥
एक अपानु प्राणीं अर्पिती। एक दोहींतेंही निरुंधिती। ते प्राणायामी म्हणिपती। पंडुकुमरा ॥१४५॥

> अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
> सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

एक वज्रयोगक्रमें। सर्वाहारसंयमें। प्राणीं प्राणु संभ्रमें। हवन करिती ॥१४६॥
ऐसें मोक्षकाम सकळ। समस्त हे यजनशीळ। जिहीं यज्ञद्वारां मनोमळ। क्षाळण केले ॥१४७॥
जया अविद्याजात जाळितां। जें उरलें निजस्वभावता। जेथ अग्नि आणि होता। उरेचिना ॥१४८॥
जेथ यजितयाचा कामु पुरे। यज्ञींचें विधान सरे। मागुतें जेथूनि वोसरें। क्रियाजात ॥१४९॥
विचार जेथ न रिगे। हेतु जेथ न निगे। जें द्वैतदोषसंगें। सिंपेचिना ॥१५०॥

> यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
> नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

ऐसें अनादिसिद्ध चोखट। जें ज्ञान यज्ञावशिष्ट। तें सेविती ब्रह्मनिष्ठ। ब्रह्माहंमंत्रें ॥१५१॥
ऐसें शेषामृतें धाले। कीं अमर्त्यभावा आले। म्हणौनि ब्रह्म ते जहाले। अनायासें ॥१५२॥
येरां विरक्ति माळ न घालीचि। जयां संयमाग्नीची सेवा न घडेचि। जे योगयागु न करितीचि। जन्मले सांते ॥१५३॥
जयांचें ऐहिक धड नाहीं। तयांचे परत्र पुससी काई। म्हणौनि असो हे गोठी पाहीं। पंडुकुमरा ॥१५४॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२॥

ऐसें बहुतीं परी अनेग। जे सांगितलें तुज कां याग। ते विस्तारूनि वेदेंचि चांग। म्हणितले आहाती ॥ १५५॥
परी तेणें विस्तारें काय करावें। हेंचि कर्मसिद्ध जाणावें। येतुलेनि कर्मबंधु स्वभावें। पावेल ना ॥ १५६॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३॥

अर्जुना वेदु जयांचें मूळ। जे क्रियाविशेषें स्थूळ। जया नव्हाळियेचें फळ। स्वर्गसुख ॥ १५७॥
ते द्रव्यादियागु कीर होती। परी ज्ञानयज्ञाची सरी न पवती। जैशी तारातेजसंपत्ती। दिनकरापाशीं ॥ १५८॥
देखैं परमात्मसुखनिधान। साधावया योगीजन। जे न विसंबिती अंजन। उन्मेषनेत्रीं ॥ १५९॥
जें धांवतया कर्माची लाणी। नैष्कर्म्यबोधाची खाणी। जें भुकेलिया धणी। साधनाची ॥ १६०॥
जेथ प्रवृत्ति पांगुळ जाहली। तर्काची दिठी गेली। जेणें इंद्रियें विसरलीं। विषयसंगु ॥ १६१॥
मनाचें मनपण गेलें। जेथ बोलाचें बोलकेंपण ठेलें। जयामाजी सांपडलें। ज्ञेय दिसे ॥ १६२॥
जेथ वैराग्याचा पांगु फिटे। विवेकाचाही सोसु तुटे। जेथ न पाहतां सहज भेटे। आपणपें ॥ १६३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४॥

तें ज्ञान पैं गा बरवे। जरी मनीं आथि आणावें। तरी संतां यां भजावें। सर्वस्वेसीं ॥ १६४॥
जे ज्ञानाचा कुरुठा। तेथ सेवा हा दारवंठा। तो स्वाधीन करी सुभटा। वोळगोनी ॥ १६५॥
तरी तनुमनुजीवें। चरणांसीं लागावें। आणि अगर्वता करावें। दास्य सकळ ॥ १६६॥
मग अपेक्षित जें आपुलें। तेंही सांगती पुसिलें। जेणें अंतःकरण बोधलें। संकल्पा नये ॥ १६७॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५॥

जयाचेनि वाक्य उजिवडें। जाहलें चित्त निधडें। ब्रह्माचेनि पाडें। निःशंकु होय ॥ १६८॥
तें वेळीं आपणपेयां सहितें। इयें अशेषेंही भूतें। माझ्या स्वरूपीं अखंडितें। देखसी तूं ॥ १६९॥
ऐसें ज्ञानप्रकाशें पाहेल। तैं मोहांधकारु जाईल। जैं गुरुकृपा होईल। पार्था गा ॥ १७०॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६॥

जरी कल्मषाचा आगरु। तूं भ्रांतीचा सागरु। व्यामोहाचा डोंगरु। होउनी असरी ॥ १७१॥

तऱ्ही ज्ञानशक्तिचेनि पाडें। हें आघवेंचि गा थोकडें। ऐसें सामर्थ्य असे चोखडें। ज्ञानीं इये ॥ १७२॥
देखैं विश्वभ्रमाऐसा। जो अमूर्ताचा कडवसा। तो जयाचिया प्रकाशा। पुरेचिना ॥ १७३॥
तया कायसे हे मनोमळु। हें बोलतांचि अति किडाळु। नाहीं येणें पाडें ढिसाळु। दुजें जगीं ॥ १७४॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मासात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७॥

सांगै भुवनत्रयाची काजळी। जे गगनामाजि उधवली। तिये प्रळयींचे वाहटुळी। काय अभ्र पुरे ? ॥ १७५॥
कीं पवनाचेनि कोपें। पाणियेंचि जो पळिपे। तो प्रळयानळु दडपे। तृणें काष्ठें काई ? ॥ १७६॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८॥

म्हणौनि असो हें न घडे। तें विचारितांचि असंगडें। पुढती ज्ञानाचेनि पाडें। पवित्र न दिसे ॥ १७७॥
एथ ज्ञान हें उत्तम होये। आणिकही एक तैसें कें आहे। जैसें चैतन्य कां नोहे। दुसरें गा ॥ १७८॥
या महातेजाचेनि कसें। जरी चोखाळु प्रतिबिंब दिसे। कां गिंवसिलें गिंवसे। आकाश हें ॥ १७९॥
नातरी पृथ्वीचेनि पाडें। कांटाळें जरी जोडे। तरी उपमा ज्ञानीं घडे। पंडुकुमरा ॥ १८०॥
म्हणौनि बहुतीं परी पाहतां। पुढतपुढती निर्धारितां। हें ज्ञानाची पवित्रता। ज्ञानींची आथि ॥ १८१॥
जैसी अमृताची चवी निवडिजे। तरी अमृताचिसारिखी म्हणिजे। तैसें ज्ञान हें उपमिजे। ज्ञानेंसींचि ॥ १८२॥
आतां यावरी जें बोलणें। तें वायांची वेळु फेडणें। तंव साचचि हें पार्थ म्हणे। जें बोलत असां ॥ १८३॥
परी तेंचि ज्ञान केवीं जाणावें। ऐसें अर्जुनें जंव पुसावें। तंव तें मनोगत देवें। जाणितलें ॥ १८४॥
मग म्हणतसे किरीटी। आतां चित्त देईं इये गोठी। सांगेन ज्ञानाचिये भेटी। उपावो तुज ॥ १८५॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९॥

तरी आत्मसुखाचिया गोडिया। विटे जो कां सकळ विषयां। जयाच्या ठायीं इंद्रियां। मानु नाहीं ॥ १८६॥
जो मनासीं चाड न सांगे। जो प्रकृतीचें केलें नेघे। जो श्रद्धेचेनि संभोगें। सुखिया जाहला ॥ १८७॥
तयातेंचि गिंवसित। तें ज्ञान पावे निश्चित। जयामाजि अचुंबित। शांति असे ॥ १८८॥
तें ज्ञान हृदयीं प्रतिष्ठे। आणि शांतीचा अंकुर फुटे। मग विस्तार बहु प्रगटे। आत्मबोधाचा ॥ १८९॥
मग जेउतीं वास पाहिजे। तेउतीं शांतीची देखिजे। तेथ आपपरु नेणिजे। निर्धारितां ॥ १९०॥
ऐसा हा उत्तरोत्तरु। ज्ञानबीजाचा विस्तारु। सांगतां असे अपारु। परि असो आतां ॥ १९१॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४०॥

ऐकें जया प्राणियाच्या ठायीं। इया ज्ञानाची आवडी नाहीं। तयाचें जियालें म्हणों काई। वरी मरण चांग ॥१९२॥
शून्य जैसें कां गृह। कां चैतन्येंवीण देह। तैसें जीवित तें संमोह। ज्ञानहीन ॥१९३॥
अथवा ज्ञान कीर आपु नोहे। परि ते चाड एकी जरी वाहे। तरी तेथ जिव्हाळा कांहीं आहे। प्राप्तीचा पैं ॥१९४॥
वांचूनि ज्ञानाची गोठी कायसी। परि ते आस्थाही न धरीं मानसीं। तरी तो संशयरूप हुताशीं। पडिला जाण ॥१९५॥
जे अमृतही परि नावडे। ऐसें सावियाचीं आरोचकु जैं पडे। तैं मरण आलें असें फुडें। जाणों येकीं ॥१९६॥
तैसा विषयसुखें रंजे। जो ज्ञानेसींचि माजे। तो संशयें अंगिकारिजे। एथ भ्रांति नाहीं ॥१९७॥
मग संशयीं जरी पडिला। तरी निभ्रांत जाणें नासला। तो ऐहिकपरत्रा मुकला। सुखासि गा ॥१९८॥
जया काळज्वरु आंगीं बाणे। तो शीतोष्णें जैशीं नेणे। आगी आणि चांदिणें। सरिसेंचि मानीं ॥१९९॥
तैसें साच आणि लटिकें। विरुद्ध आणि निकें। संशयीं तो नोळखे। हिताहित ॥२००॥
हा रात्रिदिवसु पाहीं। जैसा जात्यंधा ठाउवा नाहीं। तैसें संशयीं असतां कांहीं। मना नये ॥२०१॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

म्हणौनि संशयाहूनि थोर। आणिक नाहीं पाप घोर। हा विनाशाची वागुर। प्राणियांसि ॥२०२॥
येणें कारणें तुवां त्यजावा। आधीं हाचि एकु जिणावा। जो ज्ञानाचिया अभावा-। माजि असे ॥२०३॥
जैं अज्ञानाचें गडद पडे। तैं हा बहुवस मनीं वाढे। म्हणौनि सर्वथा मार्गु मोडे। विश्वासाचा ॥२०४॥
हृदयीं हाचि न समाये। बुद्धीतें गिंवसूनि ठाये। तेथ संशयात्मक होये। लोकत्रय ॥२०५॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४अ ॥

ऐसा जरी थोरावें। तरी उपायें एकें आंगवे। जरी हातीं होय बरवें। ज्ञानखड्ग ॥२०६॥
तरी तेणें ज्ञानशस्त्रें तिखटें। निखळु हा निवटे। मग निःशेष खता फिटे। मानसींचा ॥२०७॥
याकारणें पार्था। उठीं वेगीं वरौता। नाशु करोनि हृदयस्था। संशयासी ॥२०८॥
ऐसें सर्वज्ञाचा बापु। जो श्रीकृष्णु ज्ञानदीपु। तो म्हणतसे सकृपु। ऐकें राया ॥२०९॥
तंव या पूर्वापर बोलाचा। विचारूनि कुमरु पंडूचा। कैसा प्रश्नु अवसरींचा। करिता होईल ॥२१०॥
ते कथेची संगति। भावाची संपत्ति। रसाची उन्नति। म्हणिपेल पुढा ॥२११॥
जयाचिया बरवेपणीं। कीजे आठां रसांची वोवाळणी। जो सज्जनाचिये आयणी। विसांवा जगीं ॥२१२॥
तो शांतुचि अभिनवेल। ते परियसा मऱ्हाटे बोल। जे समुद्राहूनि सखोल। अर्थभरित ॥२१३॥
जैसें बिंब तरी बचकें एवढें। परि प्रकाशा त्रैलोक्य थोकडें। शब्दाची व्याप्ति तेणें पाडें। अनुभवावी ॥२१४॥
नातरी कामितयाचिया इच्छा। फळे कल्पवृक्षु जैसा। बोलु व्यापकु होय तैसा। तरी अवधान द्यावें ॥२१५॥
हें असो काय म्हणावें। सर्वज्ञु जाणती स्वभावें। तरी निकें चित्त द्यावें। हे विनंती माझी ॥२१६॥

जेथ साहित्य आणि शांति। हे रेखा दिसे बोलती। जैसी लावण्यगुणकुळवती। आणि पतिव्रता ॥ २१७॥
आधींच साखर आवडे। तेंचि जरी ओखदां जोडे। तरी सेवावी ना कां कोडें। नावानावा ? ॥ २१८॥
सहजें मलयानिळु मंदु सुगंधु। तया अमृताचा होय स्वादु। आणि तेथेंचि जोडे नादु। जरी दैवगत्या ॥ २१९॥
तरी स्पर्शें सर्वांग निववी। स्वादें जिव्हेतें नाचवी। तेवींचि कानांकरवीं। म्हणवीं बापु माझा ॥ २२०॥
तैसें कथेचें इये ऐकणें। एक श्रवणासी होय पारणें। आणि संसारदुःख मूळवणें। विकृतीविणें ॥ २२१॥
जरी मंत्रेंचि वैरी मरे। तरी वायां कां बांधावीं कटारें ?। रोग जाय दूधसाखरें। तरी निंब कां पियावा ? ॥ २२२॥
तैसा मनाचा मारु न करितां। आणि इंद्रियां दुःख न देतां। एथ मोक्षु असे आयता। श्रवणाचिमाजि ॥ २२३॥
म्हणौनि आथिलिया आराणुका। गीतार्थु हा निका। ज्ञानदेवो म्हणे आइका। निवृत्तिदासु ॥ २२४॥
इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥

Encoded and proofread by
Chhaya Deo, Sharad Deo, and Vishwas Bhide.
Assisted by
Sunder Hattangadi, Ashwini Deo, and Shree Devi Kumar.

Please send corrections to sanskrit@cheerful.com
Last updated October 15, 2005